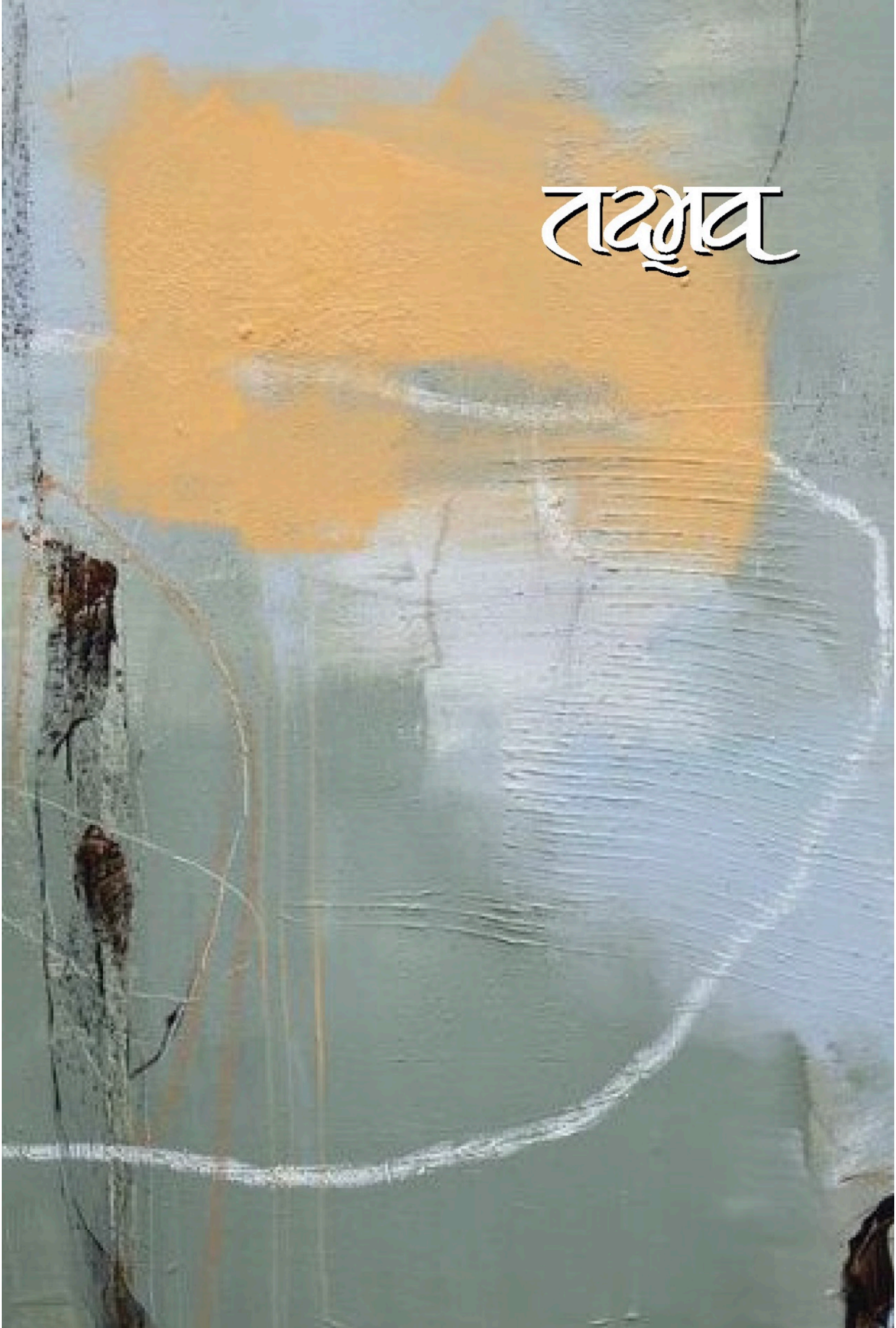
तद्भव

तद्भव

आधुनिक रचनाशीलता पर केंद्रित विशिष्ट संचयन

अंक-01, वर्ष-14
पूर्णांक-52, वर्ष-27
जनवरी-जून 2026

संपादक
अखिलेश

लेजरटाइप सेटिंग
मोहिनी शर्मा
दिल्ली

मुद्रण
ग्रैंड प्रिंटिंग प्रेस
गोमती नगर, लखनऊ

मूल्य
इस अंक की एक प्रति : तीन सौ रुपये
संस्थाओं के लिए : चार सौ पचास रुपये
वार्षिक सदस्यता : पांच सौ रुपये (डाक खर्च सहित)
संस्थाओं के लिए : आठ सौ रुपये (डाक खर्च सहित)
विदेश के लिए : सत्तर डालर
आजीवन सदस्यता : दस हजार रुपये

संपर्क
18/201, इंदिरा नगर,
लखनऊ-226016
उत्तर प्रदेश
दूरभाष : 6388234196
ई-मेल : akhilesh_tadbhav@yahoo.com

समस्त कानूनी विवादों का न्यायक्षेत्र लखनऊ, उत्तर प्रदेश होगा।

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक अखिलेश कुमार द्वारा 18/201, इंदिरा नगर, लखनऊ, उ.प्र. से प्रकाशित और ग्रैंड प्रिंटिंग प्रेस, 337 विजयीपुर, विशेष खंड, गोमती नगर, लखनऊ से मुद्रित

अनुक्रम

जीवन
अस निबहूर देसू-VIII **विश्वनाथ त्रिपाठी** 1

शताब्दी
धर्मवीर भारती : एक पुनरावलोकन **राजाराम भादू** 13

लेख
भारतीय ज्ञान परंपरा और सती **रूबल** 30 / परंपरा का मूल्यांकन और औपनिवेशिक आधुनिकता **आकांक्षा बरनवाल** 49

कहानियां
जल्लाद उर्फ हैंगमैन **मृत्युंजय कुमार सिंह** 71 / वे नहीं मानेंगे **विवेक कुमार शुक्ल** 79

मीमांसा
मुझे यहां से देखो मैं ललद्यद हूं **सुभाष राय** 95

कविताएं
दस कविताएं **राजेंद्र कुमार** 116 / कविताएं **सपना भट्ट** 126 / कविताएं **प्रिया वर्मा** 135 / कविताएं **रमाशंकर सिंह** 143 / कविताएं **संदीप तिवारी** 150

मुलाकात
'मैं मंडल के दौर के प्रति आभारी हूं, जिसने मेरी अकादमिक शख्सियत को आकार दिया' **सतीश देशपांडे** के साथ **कुंवर प्रांजल सिंह** की बातचीत 156

वृत्तांत
'रानियां यहां कभी रही होंगी, कहा गईं, हैरानियां हैं **ममता कालिया** 178

विशेष
अपने बाद के संसार में **आशुतोष दुबे** 189

उपन्यास
उर्फ कीड़ा **राजू शर्मा** 201

समीक्षाएं
आत्मकथाओं का अंतर्पाठ : चुप्पियों और दरारों के बीच **सुप्रिया पाठक** 339 / भक्ति के दिक्काल और सरहदीकरण से आगे **यवनिका तिवारी** 345 / औपनिवेशिक आधुनिकता की समस्याएं **जगन्नाथ दुबे** 351 / रोमान और यथार्थ के बीच का 'सरकफंदा' **मनोज कुमार पांडेय** 356 / मतलब हिंदू : आभ्यंतर की कथा **अंकित नरवाल** 361 / मेहनत, हौसला और कविता की जिम्मेदारी **आशुतोष कुमार ठाकुर** 366

संपादकीय

तद्भव 51 में हमने दो 'कवियन की वार्ता' शीर्षक से विख्यात रचनाकारों, अशोक वाजपेयी और अरुण कमल के मध्य हुआ एक किंचित दीर्घ और महत्वपूर्ण संवाद प्रकाशित किया था जिसके प्रारंभ में ही हमारे दोनों वरिष्ठ रचनाकार हिंसा पर चर्चा करते हुए कई विरल विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। अप्रैल 2025 में हुए इस संवाद को हमने तद्भव के जुलाई 2026 के अंक में प्रकाशित किया था और कितना अजीब है कुछ ही महीनों बाद उसको पुनः पुनः पढ़ने और उसके निहितार्थों, आशयों, तकलीफ और प्रतिरोध की आवाज का जिक्र करने की जरूरत आ गई। ऐसा इसलिए कि आज वैश्विक परिदृश्य युद्धों, हत्याओं, रक्तपात, धमाकों और तबाही से भर गया है। ये सभी हिंसा के उत्पाद हैं, हिंसा इनका मूल स्रोत है। या यूं कहें कि ये हिंसा के हथियार हैं। हिंसा के बेलगाम आक्रमणों से निर्मित मंजर को देख कर लगता है कि मनुष्य ने जो आधुनिक दुनिया बनाई थी—शांति, संवेदनशीलता, करुणा, अपने साथ अन्य की भी आजादी और अधिकारों का आदर, न्याय आदि जिसकी बुनियाद की ईंटें थीं—वह तहसनहस हो रही है। जैसे मति फिर गई, हम अपना ही उजाड़ कर रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो आज सभ्यता के सम्मुख हिंसा एक सबसे ज्वलंत मुद्दे के रूप में उपस्थित है। अतः इसके स्वरूप, विस्तार, स्रोत, प्रभाव आदि के विषय में सोचना जरूरी है।

उपरोक्त वार्ता में अशोक वाजपेयी कहते हैं : "मुझे नहीं लगता कि मनुष्य के इतिहास में इतना हिंसक समय कभी रहा होगा जितना आज है और ये हिंसा निरी भौतिक हिंसा नहीं है। युद्ध में हिंसा पहले भी होती थी! लेकिन अब जो हिंसा है वो अनेक स्तरों पर फैल गई है।" अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए अशोक वाजपेयी कहते हैं : "इस हिंसा को हमारे देश में चार चार तत्वों का एक अभूतपूर्व गठबंधन पोस रहा है, बढ़ा रहा है, फैला रहा है। एक है विशिष्ट किस्म की राजनीति और उससे बनी वर्तमान सत्ता, दूसरा मीडिया, तीसरा धर्म और चौथा बाजार।" इस कड़ी में हम अरुण कमल को भी ध्यान से पढ़ें : "हिंसा के अन्य भी कई रूप हैं। जैसे जो उत्पादन करते हैं चाहें किसान हों, मजदूर हों, चाहे वो जंगलों में रहने वाले आदिवासी हों उनसे जब छीना जाता है तो वह भी हिंसा है, हिंसा का बहुत ही मूर्त और ठोस रूप।" स्पष्ट है, अशोक वाजपेयी और अरुण कमल जब ये विचार रख रहे हैं तो उनके सम्मुख मुख्यतः भारतीय समाज है। हम इस प्रसंग में कुछ अन्य बातें सम्मिलित करने का प्रयास आगे करेंगे लेकिन उसके पूर्व देशांतर पर एक नजर डालना जरूरी है।

आज हम देख रहे हैं कि संसार के अनेक देश युद्ध के बीचोंबीच जल रहे हैं, उनके

निर्दोष नागरिक जिनमें मासूम बच्चे तक शामिल हैं अपनी जान गवां दे रहे हैं। इस लड़ाई की कीमत उन देशों की जनता भी चुका रही है जो न तो इन लड़ाइयों में दिलचस्पी रखती है और न उसके देश इनमें शामिल हैं। शायद हम एक ऐसे समय में प्रवेश कर गए हैं जिसमें सह अस्तित्व और वैश्विक भाईचारा आदि शब्द अपना आकर्षण खोकर अजनबी हो गए हैं। साम्राज्यवाद जो विश्व जनमानस के बीच एक कलंक की तरह ग्रहण किया जाने लगा था अब निर्लज्ज होकर सरेआम मानवीय सभ्यता के अर्जन का विनाश कर रहा है। दुनिया भर के प्रबुद्ध और शांतिप्रिय लोग युद्ध और हिंसा के विरोध में अपना स्वर हमेशा मुखर करते रहे हैं, आज भी वह परंपरा कायम है। यहां तक कि खुद आक्रांता अमेरिका में ईरान पर हुए अमेरिकी हमले का एक सशक्त प्रतिपक्ष उपस्थित है।

युद्ध के संदर्भ में एक बात यह है कि इसे हमारा इंद्रियबोध अनुभव करता है। इसके दृश्य हमें दिखते हैं, धमाके और चीखें सुनाई पड़ती हैं, बारूद की गंध महसूस होती है। लेकिन इसके बहुत से परिणाम तथा प्रभाव अमूर्त रूप से मनुष्यता को विचलित करते हैं और देर तक करते हैं। कई बार सैनिक और सरकारें उन्हें नहीं जान पातीं अथवा जानबूझ कर अनदेखा करती हैं जबकि साहित्य और अभिव्यक्ति के अन्य कलारूप गहराई और मानवीय करुणा के साथ दर्ज करते हैं। हम साहित्य की प्रगतियात्रा में यह बात दर्ज कर सकते हैं कि जहां हमारा प्राचीन और मध्यकाल का साहित्य, जिसमें मिथक कथाओं, धार्मिक ग्रंथों और लोकगाथाओं को भी शामिल मानते हैं, युद्धों और उन्हें लड़ने वाले योद्धाओं के पराक्रम के वर्णन से भरा हुआ है वहीं हमारा आधुनिक साहित्य दिनकर जैसे कुछ अपवादों को अलग कर दें तो प्रायः इस प्रकार की प्रवृत्तियों से मुक्त है। वह प्रायः युद्धविरोधी है। उसने उन छोटी छोटी लड़ाइयों को अपनी रचनात्मकता की धुरी बनाया है जिन्हें देश का आम आदमी रोज रोज लड़ता है। आम आदमी का जीवन ही एक संग्राम है जिसे लड़ कर उसको लहूलुहान होना है।

युद्ध का प्रस्थानबिंदु है दुश्मन। बगैर दुश्मन के कोई युद्ध वैध नहीं रह जाता, इसलिए हमेशा आक्रांता राष्ट्र दुश्मन को अपने लिए और दुनिया के लिए मुसीबत के रूप में स्थापित करते हैं फिर हमला करते हैं। चूंकि युद्ध की मार अंततः जनता सहती है इसलिए वह युद्ध के खिलाफ खड़ी हो सकती है, अतः सत्ताओं द्वारा जनमानस में हिंसा को जगाया जाता है। दिलचस्प है कि उक्त हिंसा को राष्ट्रवाद का मुखौटा पहना दिया जाता है, जैसाकि प्रेमचंद ने सन् 1934 में सांप्रदायिकता के विषय में कहा था कि वह सदैव संस्कृति की खाल ओढ़ कर आती है। खाल हो अथवा मुखौटा, यह हिंसा द्वारा अपनी बदसूरती को छिपाने के लिए एक आवरण है। गांधी जी हिंसा के विरुद्ध थे और अहिंसा के अपने उसूल पर आजीवन दृढ़ रह सके तो इसलिए कि अहिंसा के ही समानांतर वह किसी को भी दुश्मन न मानने के रास्ते पर भी चलते थे। उनका जीवन दर्शन पृथ्वी के समस्त चराचर को प्रेम करने का संदेश देता है। वह बताता है कि जीवन के लिए जरूरी आवश्यकता हेतु मनुष्य और प्रकृति के समीप जाओ लेकिन अपनी लालच के लिए दूसरों को अधीन मत बनाओ, उनका शोषण